श्रमण संस्कृति का विराट् दृष्टिकोण

सौभाग्यमल जैन एडवोकेट
गुजालपुर (म० प्र०)

श्रमण संस्कृति के विराट् दृष्टिकोण पर विचार करने के पूर्व 'संस्कृति' शब्द पर विचार कर लेना जरूरी है। मेरे अल्पमत में धर्म और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कोई संस्कृति धर्म रहित हो या कोई धर्म संस्कृति रहित हो, यह असम्भव है। जब मैं "धर्म" शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मेरा तात्पर्य सार्वकालिक, सार्वभौम, धार्मिक तत्त्वों से है, जो देशकाल से परे है। कोई धर्म असंस्कृत हो, यह सम्भव नहीं है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने "संस्कृति" शब्द पर कई विद्वानों के मत को उद्धृत कर अपना मत व्यक्त किया था कि "संस्कृति" मन, आचार, रुचियों का परिष्कार या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। भारत की संस्कृति सामाजिक तथा समन्वयशील रही है।[1] इसी प्रकार "धर्म अने संस्कृति" की प्रस्तावना (सम्पादक की कलम से) में विभिन्न विद्वानों, दार्शनिकों के मत का उल्लेख करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि संस्कृति वही मानी जानी चाहिये, जहाँ धर्म, दर्शन, कला का अस्तित्व हो।[2] आखिर, धर्म भी मनुष्य के मन को परिष्कृत करके उसके आचार तथा रुचि को सुसंस्कृत बनाता है।

भारत में प्राग् ऐतिहासिक काल से दो संस्कृतियों का अस्तित्व रहा है : १. श्रमण संस्कृति और २. ब्राह्मण संस्कृति। "श्रमण" शब्द में श्रम निहित है। ऐसी संस्कृति, जिसमें मानव जीवन के उच्चतम शिखर तक को श्रम के द्वारा प्राप्त किया जा सके, किसी की कृपा के आधार पर या याचना करके नहीं। इसके अतिरिक्त, श्रमण शब्द के गर्भ में १. श्रम, २. सम, ३. शम, भावनाएँ विद्यमान हैं। इन तीनों का दर्शन श्रमण संस्कृति में होता है। ब्राह्मण संस्कृति का नेतृत्व वैदिक ब्राह्मणों के पास था। यह अधिकतर तत्कालीन राजाओं, धनिक वर्ग से राजसूय यज्ञ (हिंसापूर्ण) कराकर देवों की प्रसन्नता प्राप्त करने का मार्ग बताती थी। इस परम्परा में वेद स्वतः प्रमाण थे। वेद को अप्रमाणित कहने वाला नास्तिक माना जाता था। श्रमण संस्कृति परीक्षा प्रधान थी। वेद को स्वतः प्रमाण मानने से इंकार करती थी तथा स्वयं के कृत कर्मों के बल पर ही उसका कल्याण या अकल्याण हो सकता है, यह मानती थी। त्याग, तप आदि पर बल देती थी। श्रमण संस्कृति का नेतृत्व क्षत्रिय लोगों के पास था, जिसका प्रमुख क्षेत्र पूर्वी भारत था। यह पृथक् बात है कि आगे चलकर दोनों संस्कृतियों में सामंजस्य बिठाने का कुछ प्रयत्न समन्वयशील मनीषियों ने किया, जो कुछ सीमा तक आदान-प्रदान के मार्ग पर चला। इस देश की दोनों संस्कृतियों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर जो मत भिन्नता रही है, उसका कुछ संकेत आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपनी एक पुस्तक की प्रस्तावना में किया है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "ब्राह्मण संस्कृति" से भिन्न एक संस्कृति प्राग् वैदिककाल से ही विद्यमान थी, जिसमें मुख्यतः अहिंसा मूलक निरामिष आहार, विचार, सहिष्णुता, अनेकान्तवाद एवं मुनि परम्परा का प्राबल्य था।[3]

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर, पृ० ५-६।
२. धर्म अने संस्कृति, प्रस्तावना, पृ० १०।
३. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा), डॉ० मंगलदेव शास्त्री, प्रस्तावना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान में श्रमण संस्कृति के दो महत्त्वपूर्ण घटक माने जाते हैं—१. जैन और २. बौद्ध। इन दोनों के उपास्य तीर्थंकर अथवा अर्हत् क्षात्रकुलोत्पन्न थे। पूर्वी भारत में क्षत्रियों के नेतृत्व वाली संस्कृति अहिंसा तथा विचार सहिष्णुता पर आधारित रही है। जैन परम्परा वर्तमान कालचक्र में तीर्थंकर ऋषभ देव से इस परम्परा का प्रारम्भ मानती है। उनके पश्चात् २३ तीर्थंकर और हुए। २१ वें नमिनाथ, २२ वें अरिष्ट नेमि और २३ वें पार्श्वनाथ तथा २४ वें वर्धमान महावीर थे। तात्पर्य यह है कि पार्श्वनाथ तथा वर्धमान तो उस महत्त्वपूर्ण संस्कृति की अन्तिम कड़ी थे, जो तीर्थंकर ऋषभ देव ने प्रारम्भ की थी। ज्ञात इतिहास ने इन दोनों तीर्थंकरों को ऐतिहासिक माना है। उसके पूर्वकाल तक हमारे इतिहासविद् विद्वानों की पहुँच नहीं हो सकी है। किन्तु केवल इसी कारण उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका नहीं की जा सकती। कारण यह है कि हमारे देश के प्राचीन साहित्य में प्रचुर मात्रा में सामग्री मिलती है, जिसपर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है :

१. तीर्थंकर ऋषभदेव अन्तिम कुलकर या मनु "नाभि" के पुत्र थे, जिनका उल्लेख वेदों तथा श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में अत्यन्त श्रद्धा के साथ किया गया है। उनको परम योगी, परम अवधूत मानकर उनकी प्रशंसा की गयी है।

२. तीर्थंकर ऋषभदेव, अजितनाथ एवं २२ वें तीर्थंकर अरिष्ट नेमि का उल्लेख यजुर्वेद में भी मिलता है।[४]

३. तीर्थंकर अरिष्ट नेमि यादवों की एक शाखा में जन्मे तथा पशु हिंसा के दृश्य से व्याकुल होकर विरक्त हुए तथा तपस्या करके गिरनार पर्वत (उर्जयन्तगिरी) पर निर्वाण को प्राप्त हुए। सौराष्ट्र (जहाँ गिरनार पर्वत है) में गौ तथा पशुशाला (पिंजरापोल) का अस्तित्व अरिष्ट नेमि (नेमिनाथ) की विरक्ति के कारण को ज्योतित करती है।[५]

४. तीर्थंकर अरिष्ट नेमि, वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे। वैदिक परम्परा में ऋषि आंगिरस ने कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी। एक मत यह है कि आंगिरस, तीर्थंकर अरिष्ट नेमि का ही अपर नाम था। उपदेश की मूल भावना से अनुमान होता हैं कि वह एक जैन मुनि का दिया हुआ उपदेश हो।[६]

५. भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद (१०.१३६.२.) में मुनि की एक विशेष शाखा वातरशना तथा उनकी वृत्तियों का जिक्र है। यह विशेषण, अनासक्ति मौन आदि आध्यात्मिक वृत्ति के धनी तपस्वियों का है। वेदोत्तर कालीन वैदिक परम्परा में भी ये मुनि पूर्ववत् सम्मानित थे। तैत्तिरीय आरण्यक (१.२.६.७.), तथा पद्मपुराण (६. २१२) के अनुसार तप का नाम ही श्रेय है। यह ज्ञातव्य है कि वातरशना, जैन परम्परा के लिये परिचित नाम है, जैसा जिनसहस्र नाम में उल्लेख आता है।[७]

६. अनुमान है कि तैत्तिरीय आरण्यक काल में, व्यवहार में ऋषि तथा मुनि शब्द पर्यायवाची होते जा रहे थे। कहीं वातरशना श्रमण मुनि के लिए ऋषि तथा वैदिक गृहस्थाश्रमी ऋषि के लिए मुनि शब्द का प्रयोग मिलता है। यह समन्वय बुद्धि का परिणाम ज्ञात होता है। वैदिक परम्परा में भी प्रारम्भिक आश्रम

४. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग–१, पृ० २६४।
५. प्राग्-ऐतिहासिक जैन परम्परा, डॉ० धर्मचन्द जैन, पृ० ५।
६. भारतीय संस्कृति एवं अहिंसा, धर्मानन्द कोसाम्बी, पृ० ६८।
७. प्राग्-ऐतिहासिक जैन परम्परा, डॉ० धर्मचन्द जैन, पृ० ७, ९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था के बाद वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम की व्यवस्था की गई। परिणाम स्वरूप दोनों शब्दों में एकत्व स्थापित हुआ।[८]

७. जहाँ ऋग्वेद में देवता की स्मृतियाँ हैं, वहीं उपनिषदों में मानव मन के भीतर उठने वाले प्रश्नों पर चर्चा की गई है। ऐसा लगता है कि जब वैदिक परम्परा तथा श्रमण-परम्परा के मनीषी निकट बैठकर चर्चा करते थे, अध्यात्म प्रधान प्रश्नों का समाधान खोजते थे, उस समय का साहित्य उपनिषद् हैं। वेद विहित (हिंसापूर्ण यज्ञों) को उपनिषद काल में आत्म परक बना लिया गया।[९]

८. राजा जनक (विदेह) की सभा में ऋषि, ब्राह्मण कुमार–सब आत्म-विद्या का उपदेश लेने सम्मिलित होते थे। महाराज जनक क्षत्रिय थे। अनुमान तो यह है कि जनक नाम नहीं था। वस्तुतः जनक का शब्दार्थ पिता होता है। जैन आगम उत्तराध्ययन में विदेहराज राजर्षि का उल्लेख है। उसमें जो संवाद ब्राह्मण वेश में उपस्थित इन्द्र तथा नमि में हुआ है, उससे लगता है कि नमि ही जनक था या नमि के वंश में ही जनक था। यह शोध का विषय है।

९. स्वर्गीय संत बिनोबाजी ने अपने द्वारा व्याख्यायित "विष्णु सहस्रनाम" पुस्तक के अन्त में "अविरोध साधक" शीर्षक से यह प्रतिपादित किया है कि विष्णु के १००० नाम में "वर्धमान महावीर" का नाम भी है (पृष्ठ ३८९) अनुमान है इन १००० नामों में विष्णु का नाम एक "जिन" भी है।

१०. योगवाशिष्ठ (संस्कृति संस्थान, खवाजा कुतुब, बरेली से प्रकाशित) प्रथम खण्ड के "वैराग्य प्रकरण" (१५ वां सर्ग) में एक श्लोक है, जिसका तात्पर्य है कि मैं राम नहीं हूँ, न मेरी कोई इच्छा (वाञ्छा) है। मैं "जिन" की तरह अपनी आत्मा में शान्ति चाहता हूँ॥

नाहं रामो नमे वाञ्छाः न च मे भावेषु मनः।
शांतिमास्थितुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥ ६॥

तात्पर्य यह है कि श्रमण परम्परा इस देश में प्राग् ऐतिहासिक काल से विद्यमान थी। उनमें विभिन्न युगों में तीर्थंकर अवतरित हुए है जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। पार्श्वनाथ और वर्धमान महावीर की ऐतिहासिकता तो विवाद से परे है। श्रमण परम्परा का जो साहित्य आज उपलब्ध है, उसके लिहाज से यह बिना संकोच कहा जा सकता है कि श्रमण संस्कृति का दृष्टिकोण सदैव विशाल रहा है। तीर्थंकर महावीर के युग में वैदिक परम्परा में संस्कृत का प्राबल्य था। इसे उच्च वर्ग में सीमित कर दिया गया था। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्"–स्त्री तथा शुद्रों को वेद के पठन का अधिकार नहीं है। जहाँ ऐसी स्थिति थी, वहाँ तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन प्रचलित जन भाषा मगध तथा निकटवर्ती स्थानों की जनबोली का मिश्र रूप "अर्द्ध-मागधी" अपना कर, जन सामान्य तक अपने सन्देश को पहुँचाया। इस प्रकार से भाषा के क्षेत्र में एक ऐसी क्रांति हुई जिससे संस्कृत का गर्व समाप्त हो गया। केवल इतना ही नहीं, तीर्थंकर महावीर संघ के द्वार अभिजात्य वर्ग से लेकर निम्न तथा निम्नतम वर्ग के व्यक्ति के लिये खुला था। यही कारण है कि उनके संघ में चाडाल तक मुनि के रूप में दीक्षित हुए। उनको वही उच्च स्थिति प्राप्त थी, जो अभिजात्य वर्ग व्यक्ति के लिये थी। उस समय संघ में समाज का प्रत्येक तबका सम्मिलत होता तथा उनके उपदेशों को आत्मसात्

८. वही, पृ० ९, १०।

९. उपनिषदों की भूमिका, डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ४९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता था। श्रमण संस्कृति के दृष्टिकोण की विराटता को, इस प्रारम्भिक परिचय के पश्चात्, उदाहरण रूप में निम्नलिखित बिन्दुओं से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यह संस्कृति देश-काल से परे समस्त प्राणी जगत् की उन्नति के लिये प्रयत्नशील थी। यही कारण है कि उत्तर काल में इस संस्कृति का प्रचार-प्रसार विदेशों में हुआ।

१. जैन परम्परा में "नमस्कार मंत्र" अत्यन्त पवित्र माना जाता है, जिसमें गुणों के आधार पर अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुजन को नमस्कार किया गया है, किसी व्यक्ति विशेष को नहीं। यही नहीं, अपितु अन्तिम पद "साधु" शब्द में "लोक के समस्त साधुजन" को आराध्य मानकर नमन किया गया है। केवल इस देश के ही नहीं, देश-विदेश (समस्त लोक) के समस्त साधुजन इसमें अभिप्रेत है। साथ ही लिंग, वेश, जाति, देश से परे यह व्यवस्था है, किन्तु उसमें साधुता अनिवार्य है।

२. मानव जाति का अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति है। इसके लिये प्रत्येक धर्म के मनीषी, तत्व-चिंतकों ने मानव जाति का पथ प्रदर्शन किया है। उसको किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी या दीक्षित होना जरूरी नहीं है। इस सार्वभौम सिद्धान्त के अनुसार, जैन धर्म में मान्य सिद्ध अवस्था को (अन्तिम लक्ष्य) प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं, उनमें स्वलिंग (जैन धर्म में मान्य परम्परा), अन्य लिंग (अन्य धर्मों में मान्य परम्परा), तीर्थ सिद्ध (जैन धर्म का अनुयायी), अतीर्थसिद्ध (जिसने जैन धर्म को अंगीकार नहीं किया) उस परम्परा के वेश में भी वह सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः जब आत्मा राग-द्वेष से रहित शुद्ध अवस्था पर पहुँच जाती है, तब सिद्ध अवस्था में स्थित हो जाती है।

३. तीर्थंकर महावीर के प्रमुख शिष्य (गणधर) इन्द्रभूति गौतम थे। वे पूर्व में वेद एवं वैदिक साहित्य के मनीषी, मर्मज्ञ प्रकाण्ड विद्वान थे। तीर्थंकर महावीर से शंकाओं का समाधान पाकर वे दीक्षित हो जाते हैं। इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीर के विशाल संघ के प्रथम गणधर थे।

४. ऋषिभाषित (रिषिभासियाइं) श्रमण-परम्परा का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें जैन दर्शन के तत्व चिंतक, वैदिक दर्शन के ऋषि, परिव्राजक तथा बौद्ध भिक्षुओं के आध्यात्मिक उपदेश संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ इस देश की त्रिवेणी के रूप में (जैन, बौद्ध, वैदिक धारा) समन्वय का संदेशवाहक तथा साम्प्रदायिक व्यामोह के पाश को तोड़ने के लिए मार्गदर्शन करता है। आध्यात्मिक उपदेश चाहे किसी परम्परा के हो, वरेण्य हैं और आत्मा को उन्नत अवस्था तक के जाने में सहायक होते हैं। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति के आदि पुरस्कर्ता ऋषभदेव का अनुयायी अंबड परिव्राजक भी था।[१०] संक्षेप यह है कि श्रमण संस्कृति के मनीषी आचार्यों ने इस दिशा में जैन दर्शन द्वारा मान्य अनेकान्त दृष्टि से भिन्न-भिन्न मतवादों में सामन्जस्य करने का प्रयत्न किया है। नय (सापेक्ष सिद्धान्त) की नींव पर खड़ा अनेकान्त या स्याद्वाद समन्वयशील रहा है। वैसे जितने वचनपथ है, उतने नय है।[११]

इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। महान आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में सांख्य दर्शन तथा उसके प्रणेता कपिल मुनि के सम्बन्ध में कहा था :

---

१०. रिसिभाषियाइं सुत्तं, संपादक मनोहरमुनिजी, पृ० १८, १९।

११. षडदर्शन समुच्चय, सं० श्री विजयजम्बूसूरि, वीर संवत् २४७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्तयोगों-मन, वचन, काया का, अमूर्त आकाश के साथ मूर्त घट का, अमूर्त ज्ञान के साथ मूर्त मदिरा का सम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है। कपिलमुनि दिव्य ज्ञानी थे, अतः वह पूर्णतः असत्य कैसे कहते ?[१२]

"मूर्तयाऽध्यात्मनो योगो घटेन नभतो यथा। उपघातादि भावस्य, ज्ञान स्येव सुरादिना।
एवं प्रकृति वादोऽपि विज्ञेयं सत्य एव हि। कपिलोस्तत्व रुचेन दिव्यो हिस महामुनिः॥

यह है–भिन्न विचार के प्रति सहिष्णुता। आवश्यक है कि मनुष्य की चित्तवृत्ति निर्मल, निष्कलुष, कषाय-रहित सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न हो, तो वह विरोध में भी अविरोध का दर्शन कर लेता है। इसी कारण उसका दृष्टिकोण विशाल रहा है।

महान योगी आनन्दघनजी ने एक स्पष्ट बात कही है :

राम कहो, रहमान कहो, कोई कान्ह कही महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोऊ ब्रह्म, सकल ब्रह्म स्वमेव री॥
भाजन भेद कहावत विध नाना, एक मृतिका रूप री।
तेसे खण्ड कल्पना आरोपित, आप अखण्ड स्वरूप री॥

किन्तु यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि इतने उदार तथा समन्वयशील श्री संघ में भगवान महावीर के कुछ शताब्दियों के पश्चात् सचेल तथा अचेल के नाम पर विशृंखलता प्रारम्भ हुई। यह तो सर्वमान्य है कि भगवान महावीर निपट दिगम्बर थे। सचेलत्व का पक्षधर श्वेताम्बर सम्प्रदाय अचेलत्व की प्रशंसा करता है, किन्तु अपवादिक स्थिति में वस्त्र के उपयोग (सीमित मात्रा तथा प्रतिकूल परिस्थिति में) को मुनिधर्म के विपरीत नहीं मानता। अचेलत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर को स्त्री मुक्ति का निषेध करना पड़ा। सर्वमान्य स्थिति यह है कि कर्मबन्धन तथा उससे मुक्तता का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा अपने मूल स्वरूप में न तो पुरुष है, न स्त्री। कर्म से मुक्तता कषाय की अनुपस्थिति पर निर्भर होती है। शरीर पर्याय से उसका सम्बन्ध नहीं है। किसी भव्य जीव के केवल्य प्राप्ति के पश्चात् भी उसकी आत्मा शरीर में रहती है। गुण स्थान के क्रम में (तेरहवाँ गुण स्थान) सयोग केवली कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उस केवली को मन, वचन, काया का योग प्राप्त है और वह क्रियाशील है किन्तु उसके रागद्वेष, मूलतः नष्ट हो चुके है, अनासक्त भाव से (चरमसीमा) जीवन व्यतीत करता है, इस कारण उसे कर्मबन्धन, नहीं होता। व्यावहारिक तथा विज्ञान की दृष्टि से भी देखें, तो जब तक शरीर है, उसे शरीर निर्वाह के लिये भोजन लेना आवश्यक होता है। यदि हम गहन चिंतन करें तो यह स्पष्ट होगा कि उपरोक्त बिन्दु ऐसे नहीं थे कि जिसके कारण दोनों परम्पराओं में वैचारिक समन्वय नहीं हो सकता था।

यदि हम इतिहास की दृष्टि से देखें, तो ईसा की दूसरी शताब्दी में इस सांप्रदायिक अभिनिवेश में समन्वय के साधक एक संघ का उदय हुआ जिसे "यापनीय संघ" कहा गया। श्वेताम्बर परंपरा की मान्यता से अचेलत्व-सचेलत्व का विवाद वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् (८२ ईसवी में) तथा दिगम्बर परंपरा की मान्यता के अनुसार ई० सं० ७९ में हुआ। दिगम्बर-श्वेताम्बर संघ भेद के ६०-७० वर्ष पश्चात् ही (ई० सं० १४८ में) यापनीय संघ का

१२. "श्रमण" वाराणसी, अगस्त, १९८३, 'सर्वधर्म समभाव और स्याद्वाद', लेखक सुभाषमुनि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रादुर्भाव हुआ।[13] इस संघ का अस्तित्व ईसा की १५ वीं या १६ वीं शताब्दी तक रहा।[14] इस संघ की कुछ मान्यतायें श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य तथा कुछ दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य थीं। यापनीय संघ का साहित्य पर्याप्त है और यह साहित्य इस संघ भेद के मूल का पता लगाने तथा दोनों परम्पराओं को जोड़ने वाला साहित्य है।[15] ऐसा प्रतीत होता है कि ७० वर्ष में ही समन्वयशील मस्तिष्क संघ भेद के कारण व्यथित था तथा खाई को पाटने जैसा विचार उसके मस्तिष्क में हिलोरें ले रहा था, जिसके कारण यापनीय (अपरनाम आपुलीय या गोप्य संघ) संघ अस्तित्व में आ गया। लगभग १६वीं शताब्दी में इस संघ का लोप हो गया। कारणों के सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके पश्चात् का इतिहास तो दोनों परम्पराओं के आंतरिक विद्रोह तथा विशृंखलता का इतिहास है। श्वेताम्बर परम्परा में लोकाशाह की परम्परा तथा उसके पश्चात् स्थानकवासी तेरह पंथ का उदय हुआ। दिगम्बर परम्परा भी अछूती नहीं रही। स्व० तारणस्वामी का तारण पंथ स्वर्गीय श्री कानजी स्वामी तथा स्वर्गीय श्री रायचन्द भाई की परम्परा भी चली। तात्पर्य यह है कि जैन संघ की शक्ति का विभाजन होता रहा।

जैन संघ की इस विशृंखल प्रधान प्रवृत्ति को देखकर बड़े दुःखी हृदय से महान अध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी ने एक पद कहा था, जसका अर्थ है कि गच्छ में बहुत भेद प्रभेद अपनी आँख से देखते हुए तत्व चर्चा करते हुए लज्जा नहीं आती ? कलियुग में दुराग्रहों से ग्रस्त होकर अपनी भूख (वैयक्तिक पूजा-प्रतिष्ठा की तृष्णा) मिटाने के लिये प्रयत्नशील है। तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक भूख को सैद्धान्तिक जामा पहनाकर श्री संघ में विशृंखलता लाई गई है। हमारा जैन समाज जाति, सम्प्रदाय, आदि विभिन्न प्रकार से विशृंखलित है। हम अनेकांत तथा स्याद्वाद की प्रशंसा के गीत गाते हुए भी पूरे एकांतवादी हो गये हैं। पूरे जैन समाज में कोई ऐसा प्रामाणिक समन्वयशील, अनेकांतिक विचारधारा का पक्षधर (जिसकी वाणी तथा कर्म में साम्य है) महापुरुष नहीं है जो इस विशृंखलित जैन समाज में एकता का वातावरण निर्माण करके सशक्त अखिल जैन समाज को अस्तित्व में लाने की क्षमता से सम्पन्न हो। इस निराशाजनक स्थिति में भी मैं निराश नहीं हूं। मेरा विश्वास है कि काल निरवधि है, पृथ्वी विपुल है। कोई कालजयी महापुरुष अवश्य इस महान कार्य को संपन्न करेगा।

उपस्यन्ते तु मां समान धर्मा, कालो निरवधिः विपुला च पृथ्वी ॥

---

१३. जैन साहित्य तथा इतिहास, ले० स्व० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५६, १९५६।
१४. वही पृ० ५६४।
१५. वही पृ० ५८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org